पाकिस्तान का सफरनामा-४

स्तंभ/अनन्तर/जनसत्ता/२६ मार्च, २००६

सूफी धरती पर

ओम थानवी

डाकू भारत में भी हैं। लेकिन मुझे अब तक देश में ऐसे किसी रास्ते से गुजरने का मौका नहीं मिला है, जहां पहले चेतावनी दी जाती हो कि होशियार होकर चलें, आगे डाकू हैं!

कराची से मुअन जो दड़ो सीधी हवाई सेवा है। मगर दुविधा थी कि हवा मार्ग से जाएं या सड़क से। एक तो कोहरे का आलम था। क्या पता उड़ान कब रद्द हो जाय। दूसरे, आगे लाहौर से तक्षशिला तक लंबा सफर तय करना था। तो जो खर्च बच जाय वह अच्छा है। फिर होटल में जमे दस्ते में साथ चलने को सिर्फ एक अरुण तैयार थे। इन लोगों का जहीर जलसा निपट चुका था। येचुरी और राजन का दिल्ली लौटना तय था। हंगल साथ चलना चाहते थे, पर उम्र की बंदिश थी।

सोचा टैक्सी से निकलें। हमीद हारून ने चुटकी ली: कैसे संपादक हो? मैंने कहा, आपकी तरह अखबार समूह का मालिक तो हूं नहीं। फिर धीमे-से बोला, मेरा दस सफे का छोटे कद का काला-सफेद अखबार है, इतना हलका कि हॉकर उसे ऊपर फेंकता है तो वह उसके हाथों में फौरन वापस आ जाता है! और मैं तफरीह के लिए आया हूं।

अपने नाटकीय अंदाज में आंखें छोटी करते हुए हारून बोले, फालतू बातें नहीं, मैं अभी टिकट मंगाता हूं। मैंने कहा, हरगिज नहीं। पैसे का मसला नहीं है; कोहरे का डर है।

''मगर टैक्सी से भी हरगिज नहीं! ऐसी गलती भूल कर भी न करें। रास्ता लंबा है और उस पर डाकू हैं। इसे मजाक न समझें।'' हमीद संजीदा थे।

बाद में पाकिस्तान में पर्यटन की जो मार्गदर्शिका खरीदी, उसमें देखा कि सिंध सूबे के हिस्से में ''कराची से बाहर'' ब्योरा इस पंक्ति से शुरू होता था: ''आपको सलाह दी जाती है कि कराची से बाहर किसी हथियारबंद गार्ड के बगैर न निकलें।'' इसका खुलासा भी: ''नब्बे के दशक से सिंध में कुछ सुरक्षा की समस्या है। डाकुओं के गिरोह, जो कई दफा जमींदारों के साये में काम करते हैं, लूट के लिए बसों-रेलगाड़ियों को रोक लेते हैं या कारों को अगवा कर लेते हैं।''

जब हम काजी साहब से विदा लेने पहुंचे, उन्होंने भी हारून की बात की ताईद की। उन्होंने कहा कि उधर टैक्सी में पूरा खतरा है। मगर जाना जरूरी है तो आप बस से जा सकते हैं। हवाई जहाज की रवानगी का भरोसा नहीं। पर बसें यहां की बहुत आरामदेह हैं। लाड़काणा तक रात भर का सफर है। सुबह होते पहुंच जाएंगे। मैं बस के वक्त का पता कर देता हूं। आगे फोन भी कर दूंगा। हमारे लोग वहां आपकी राह देखेंगे। नाश्ते के बाद आपको वे अपनी गाड़ी से मुअन जो दड़ो ले जाएंगे जो थोड़ी ही दूरी पर है।

पराई जगह पर यह बर्ताव किसी को भी अभिभूत करता। मगर मेहमाननवाजी सिंध वासियों की फितरत में है।

बस रात बारह बजे थी।

जो वक्त मिला, उसमें छोटी-मोटी काम की चीजें खरीद लीं। सबसे अहम फोन का सिमकार्ड। दोनों देशों में दोस्ती का राग है। पर इधर का सिम उधर नहीं चलता। पहले कभी चलता था। समझौता खत्म हो गया होगा। नए सिम से फोन में जान आई। घर बात की, फिर गांव में। रवाना हुआ तब मां पाकिस्तान के नाम से चौंकी थी। दफ्तर का जरूरी काम होगा, उसने पूछा। मेरे यह कहने पर कि नहीं, घूमने जा रहा हूं, उसने फिर संशय के स्वर में पूछा, जाना जरूरी होगा? बुजुर्गों के मन में जो इलाका इतना दूर चला गया, अभी करीब लौटा नहीं है। भरोसा कभी आसानी से नहीं लौटता।

लाड़काणा की बस सामने खड़ी थी। उसे देखकर ही झटका लगा।

वैसी बस न थी, तारीफ से जैसी उसकी तस्वीर बांधी थी। लेकिन डाकुओं की तारीफ भी इतनी हो चुकी थी कि सामने खड़ी बस में फुर्ती से बैठ जाने में ही भलाई समझी।

बस के भीतर अजीब-सी गंध थी। फटी सीटें। सवारियां भी कम। शंका हुई कि यह खस्ताहाल बस मंजिल तक पहुंचाएगी भी? फिर आत्मसंशय। मैं जा ही क्यों रहा हूं खंडहरों के बीच। रखा क्या है ऐसी अतीत की खोज में। उतर जाएं। फिर कभी देखा जाएगा। लगा दिल डूब रहा है। थकान है, या बेचैनी या अवसाद! पर कभी अपने को संभालना पड़ता है। नहीं, यह अतीत की नहीं अपनी जड़ों की खोज है! यह तीर्थयात्रा है, हमारी सभ्यता के सबसे बड़े तीर्थ की। मौका भी है, दस्तूर भी। चल निकले तो पहुंच भी जाएंगे।

और इस जद्दोजहद में मजा यह था कि पता नहीं कितना अरसा हो गया, बस में सफर किए। जयपुर गया था। शानदार बस थी। अब

आदत भी जाती रही। और यह पांच सौ किलोमीटर का सफर। पूरी रात। आंखों में नींद। राहत इतनी ही कि सबसे आगे की सीट थी, बोनट तक पांव फैला सकता था। बैठते ही, बस खाना होने से पहले, आंख लग गई।

और अचानक किसी धमाके-सी आवाज से सहम कर जागा। नहीं, कोई बाहरी हमला नहीं था। न कोई हादसा। चालक ने 'जंगली' फिल्म के गाने के साथ अपना स्टीरियो चला दिया था, जो शायद अनजाने चरम पर ही शुरू हुआ। या मुसाफिरों को जगाने के लिए उसने जान-बूझ कर ऐसा किया था? चालक और बगल में साये की तरह उसके साथ सड़क पर नजरें गड़ाए बैठा खलासी दिखने में दोनों शरीफ लगते थे। उसने गाने की आवाज बाद में कुछ कम भी कर दी। लेकिन एक दफा इस तरह उड़ी नींद कब वापस आती है। नींद भी भरोसे की तरह है लौटने के मामले में।

वह साठ के दशक के मधुर हिंदी गाने बजा रहा था। झुंझलाने के बाद मैंने पहले जाग कर फिर चैन से सो जाने वाले अरुण की तरफ देखा, फिर कातर नजरों से दाईं तरफ बैठे खान बहादुर की तरफ। उन्हें रास्ते में उतरना था। मैंने उन्हें अपनी रामकथा सुनाकर कहा, आधी रात की बस में जब मुसाफिर सो रहे हों, यह खुदा का बंदा गाने आखिर किसके लिए बजा रहा है!

''अपने लिए'', उन्होंने सहज भाव से कहा। ''ताकि उसे नींद न आए! इसीलिए बड़ा स्पीकर उसी के ऊपर लगा है।'' स्पीकर जितना उसके ऊपर था, उतना ही हमारे सिर पर भी।

उनका नाम नासिर खान समझें (असल और था)। मुदर्रिस (अध्यापक) थे। शिक्षकों की तरह गंभीर। मैंने कुछ बात शुरू की। उनसे बात चुकती तो मेरी बोझिल आंखें सामने सड़क के अंधेरे पर ठहर जातीं, सड़क पर रफ्तार से दौड़ रही बस की रोशनी जिसे भेदने की कोशिश करती थी। अंधेरे और रोशनी के इस खेल के साथ मन ख्यालों में डूबने-उतराने लगा। सहसा धीरज भर आया। चालक के प्रति करुणा जागी। पता नहीं किस सात्त्विक बोध में सारा गुस्सा, खीझ और नींद जैसे तिरोहित हो गए। विचार का सिलसिला चला। खान साहब से बातों में, कुछ अपने ख्यालों में।

यह बस या रेल के सफर में ही मुमकिन है कि बिना किसी वाक्फियत के साथ का मुसाफिर बरसों के वाकिफ की तरह पेश आए। उन चिकने 'परिचय-पत्रों' का आदान-प्रदान किए बगैर, जो चतुर-सुजानों के बटुओं में नोटों के बीच दुबके होते हैं। विमान के मुसाफिर आंखों में भी नहीं मुस्कुराते अगर सामने अजनबी खड़ा हो। हवा में उड़ने और जमीन पर चलने का यह बड़ा फर्क है।

बस में ठण्ड थी, जो कराची के पीछे छूटते ही महसूस होने लगी थी। कहने की क्या दरकार कि बस अनुकूलित वायु वाली नहीं थी। इमदाद काजी की हिदायत के मुताबिक जरसी मैंने पहले ही निकाल रखी थी। हवा से एक ही दिक्कत थी कि उसमें शोर था। ऊपर के गाने और बाहर की हवा में टकराहट बातचीत में खलल पैदा करती थी और ख्यालों के सिलसिले में भी। पर इस जद्दोजहद में यह हुआ कि नींद दुबारा पास नहीं फटकी। एक-आध बार की मीठी झपकी को छोड़कर।

कराची के बाद बस में, और आगे भी, सिंधी का ही बोलबाला था। सिंध के बाशिंदे को आप पैरहन से भी पहचान सकते हैं। लंबी कमीज, कंधे पर जामुनी छाप वाला मोटा कपड़ा 'अजरख', सिर पर गोल काच-जड़ी रंग-बिरंगी टोपी, ललाट पर एक कतरन से दो हिस्सों में बंटती हुई-सी और पांवों में कशीदेवाली चोंचदार जूतियां। औरतें चटख रंग का कढ़ाईदार घाघरा, काच की जरदोजी वाली कुर्ती, ओढ़नी, लाख के कंगन और चांदी के गहने पहनती हैं। सरहद के दूसरी तरफ सिंध से सटे राजस्थान में भी यह वेशभूषा आम है।

असल में सिंधु नदी के इर्दगिर्द सरसब्ज इलाके को छोड़कर बाकी ग्रामीण सिंध विराट रेगिस्तान का ही हिस्सा है। थोड़ी सिंचाई सिंधु से निकली नहरों से भी होती है। पर ज्यादातर सिंधी आबादी बटाई पर फसल बोती है; खेतों के मालिक रईस जमींदार हैं, जैसे भुट्टो खानदान। ज्यादातर जमींदारी बलोचियों के कब्जे में है। उनकी मर्जी के खिलाफ बटाईदार सिंधी वोट तक नहीं दे सकते।

नासिर खान बोले कि पाकिस्तान में सबसे ज्यादा हिंदू- कोई पचीस लाख- सिंध में रहते हैं। बंटवारे से पहले यह तादाद ज्यादा थी। यह बात इसलिए अहम है कि पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में मुस्लिम राज सबसे पहले सिंध में कायम हुआ, इस्लाम की स्थापना के थोड़े ही समय बाद। सतरह साल के अरब के शहजादे मोहम्मद बिन कासिम ने सन ७११ में सिंध के राजा दाहिर पर धावा बोला था। बाद में इस इलाके पर बगदाद के खलीफाओं ने राज किया। उन्नीसवीं सदी तक मुगलों समेत सात राजवंश यहां अपनी धाक जमा चुके थे। मगर हिंदू-मुस्लिम फसाद यहां कभी नहीं हुए। बंटवारे के वक्त भी नहीं। उसकी वजह क्या रही होगी? दो हजार साल पहले यहां कायम बौद्ध मत क्या सहनशीलता और करुणा की इतनी गहरी जड़ें छोड़ गया है?

''यह सिंध सूफियों की विरासत भी है।'' नासिर खान बोले। उनकी इस राय पर मैंने इत्तफाक किया।

मगर शाहबाज कलंदर, शाह लतीफ सिंध में महान सूफी संत हैं तो वारिस शाह, बुल्ले शाह और बाबा शेख फरीद ने पंजाब से अमर सूफी काव्य दिया है। पर बंटवारे के बाद सिंध में जातीय दंगे बहुत हुए, मैंने इस पर हैरानी जाहिर की।

''इसके सियासी वजूह रहे हैं।'' खान के मुताबिक बंटवारे के बाद यहां बड़ी तादाद में मोहाजिर आए। इनमें ज्यादातर उत्तर प्रदेश के रहने वाले थे। नए मुल्क की राजधानी कराची होने की वजह से पाक पंजाब से भी बड़ी तादाद में लोग इधर आ गए। दोनों उर्दू (हिंदी शरीक) बोलते थे। कराची को केंद्रशासित घोषित कर दिया गया। अंग्रेजी राजभाषा और उर्दू राष्ट्रभाषा हो गई। सिंध के लोगों ने इसे अपनी पहचान पर हमला माना। देखते-देखते सिंधी आबादी सूबे में सिर्फ साठ फीसद रह गई। कराची और हैदराबाद जैसे सिंध के बड़े शहरों में बाहरी आबादी ज्यादा हो गई। कराची विश्वविद्यालय में सिंधी विभाग बंद कर दिया गया। नौकरियों में उर्दू बोलने वालों को तरजीह दी जाने

लगी। सिंधी अपने ही सिंध में हाशिये पर पहुंच गए।

''आखिर सिंधी दो हजार साल पुरानी जुबान है, उर्दू कल यहां आई है। सिंधी के बावन हर्फ हैं, उर्दू में तो सिर्फ अट्ठाईस हैं।'' नासिर का स्वर संयत था, पर मन विचलित लगता था। ''आज हुकूमत, फौज, आईएसआई और अफसरशाही में मोहाजिरों का हुक्म चलता है। मुल्क की हुकूमत दो-तीन दफे तो मोहाजिरों के हाथों में ही जाती रही है: पहले वजीरे आजम लियाकत अली मोहाजिर थे और जनरल मुशर्रफ भी हैं!'' (सिंध में मोहाजिर वजीरे आला नहीं बन सकता।)

लेकिन भुट्टो तो सिंध के थे। ''हां, मगर उन पर वार करने वाला (जिया उल हक) पंजाबी था और फांसी की सजा सुनाने वाले जज भी!''

सिंध की राजनीतिक और प्रशासनिक फिजा पर मोहाजिर और पंजाबी समुदाय के छाने की एक वजह शायद यह भी थी कि उनमें शिक्षा ज्यादा थी। आज पाकिस्तान के तीन करोड़ मोहाजिरों में सवा दो करोड़ केवल सिंध में हैं। बहरहाल, जातीय अस्मिता की इस कशमकश में सिंध में 'सिंधु देस' के लिए 'जिये सिंध' आंदोलन उठ खड़ा हुआ। उधर मुत्ताहिदा कौमी मूवमेंट है जो मोहाजिरों की असरदार पार्टी है। दोनों में कई बार हिंसक झड़पें हो चुकी हैं। सैकड़ों लोग मारे गए हैं। कराची में सेना तक बुलानी पड़ी है।

खान बहादुर ने बताया, ''हालात अच्छे नहीं हैं। थोड़ा-सा भड़के नहीं और लोग खून के प्यासे हो उठते हैं।''

प्यास शब्द जैसे मेरे कानों ने नहीं, होंठों ने सुना। पानी की तलब कब से थी, अहसास अब जागा। सामने दरवाजे के पास ही एक प्लास्टिक की टंकी रखी थी और प्लास्टिक का ही मग। लोग पीछे से आते थे, पानी पीकर लौट जाते थे। मैंने भी पिया। पर प्यास बुझी नहीं। शायद टंकी की कुछ अपनी महक पानी में दाखिल हो गई थी। खान साहब बाद में बोले, इसीलिए मैं भी अगले स्टॉप का इंतजार कर रहा हूं!

अगला ठहराव जल्दी ही आ गया। एक लीटर साफ पानी पच्चीस रुपए का। मुल्क का मुआशी निजाम डांवाडोल होने की यह अच्छी मिसाल है। आपके यहां कितने में मिलती है, उन्होंने पूछा। मैंने बताया, दस रुपए में। आपके हिसाब से तेरह मान लें। उन्हें अचरज हुआ।

हमने मूंगफली खरीदी। उसका दाना अप्रत्याशित रूप से बड़ा था। मूंगफली के ठेले से कुछ दूर अजीब नजारा था। कई लोग चट्टानों पर लेटे बदन पर मालिश करवा रहे थे। रात के उस वक्त ढाई बजे थे। पर किसी को देखकर लगता नहीं था कि जल्दी ही सुबह का पहला पहर शुरू होने वाला है। एक मालिश वाले पर शायद हर किसी की नजर ठहरी होगी। वह सधे नृत्य की मुद्रा में, बदन में हिलोर लेकर, अंगुलियां हवा में नचाता और प्यार से तड़ाक लेटे ग्राहक की पीठ पर जड़ देता। तय करना मुश्किल था कि वह मालिश कर रहा था या कोई नृत्याभ्यास।

उसे देख मुझे कई बरस पहले राजपथ पर साउथ ब्लॉक क्रासिंग पर तैनात ट्रैफिक के सिपाही की याद हो आई। वह यातायात नियंत्रण के इशारे नृत्य- या अर्धनृत्य- की मुद्राओं में अदा करता था। तब लाल-हरी स्वचालित बत्ती वहां नहीं लगी थी। वह सिपाही इतना लोकप्रिय हुआ कि फ्रांस वाले उसे अच्छी-खासी नौकरी देकर पेरिस ले गए। दिल्ली में अपनी सेवा के आखिरी रोज उसने पत्रकारों के सामने 'बीटिंग रिट्रीट' की तरह अपने हुनर का विशेष प्रदर्शन किया था। कोई फ्रांसुआ कभी इस बिचारे मालिश वाले पर भी मेहरबान हो।

बहरहाल, बस चलने के कोई घंटे भर बाद खान अल्लाह हाफिज कह गए। मेरे मना करने पर भी बचे पानी की अपनी बोतल मेरी बगल में रखते हुए। और यह कहकर मेरा दिल कुछ बुझाते हुए कि अभी तो लाड़काणा का आधा रास्ता पार नहीं हुआ है!

कोई मसला नहीं: कहने को मेरा मन हुआ। पर बोला नहीं। इतनी बातचीत के बाद भी एक परदा कहीं बीच में टंगा रह गया था। गंभीर मसलों पर बातचीत का यही कमजोर पहलू है कि वह मस्तमौला मंसूर सईद वाले फितने ढांप लेता है!

हां, जाते-जाते वे मेरे 'लरकाना' को खोलकर 'लाड़काणा' कर गए। एक कहावत भी सुनाई: ''हुजैई नाणो, तो घुम लाड़काणो।'' जब पास में पैसा, तब घूमो लाड़काणा। पुराने जमाने में लाड़काणा कितना दूर लगता होगा, इसका अंदाजा मुझसे बेहतर इस घड़ी कौन लगा सकता है!

एक अनमनी झपकी के बाद मैंने ट्रकों की गिनती शुरू कर दी। फालतू वक्त में इससे फालतू कोई काम हो नहीं सकता; मगर आपने कभी बस में बैठे मील के पत्थर गिने हों तो समझ सकते हैं कि यह उतना नीरस काम भी नहीं। घड़ियां गिनें या ट्रक, क्या फर्क पड़ता है!

लेकिन यहां कुछ और बात बनी। मैंने गौर किया कि बस जब कभी ट्रक के बहुत करीब पहुंचती, उसकी रोशनी में जगमग होने वाले ट्रकों की पीठ पर दिलकश चित्रकारी है! असल में यह चमकदार चिप्पियों (रिफ्लेक्टर) से की गई पच्चीकारी है। किसी ट्रक पर बेल-बूटे हैं, किसी पर गौरैया-तोतों का जमघट, किसी पर नदी और उसके पाट के पेड़ों पर पंछी- अपने सहज आकार से कुछ बड़े। कुछ ट्रकों पर फौजी नायकों के पोर्ट्रेट दिखाई दिए। बगैर वर्दी के पोर्ट्रेट भी जो, मुझे शंका हुई, शायद ट्रकों के मालिकों के रहे होंगे। पर अनगढ़, शौकिया हाथों में कल्पना और कौशल का यह काम बिलकुल निरर्थक नहीं है। पीछे आने वाले को चिढ़ाने-अपमानित करने वाले भद्दे नारे लिखने के सामने यह बहुत सुरुचिपूर्ण है। ट्रकों पर चित्र कभी-कभी हमारे यहां भी देखने को मिल जाते हैं, पर वे हल्के पेंट में होते हैं जिनका रंग उड़ जाता है। उनमें कल्पनाशीलता भी कम होती है।

ट्रक-चित्रों की एक और खूबी है: आपको आंखें ही नहीं, अपने वाहन की हैडलाइट खोलनी पड़ती है। चित्र उनके, रोशनी आपकी! ओवरटेक करने की जल्दबाजी में होंगे तो रोशनी हटते ही चित्र गायब। यह किसी फन की तरह हुनर में भी संप्रेषण की दुतरफा कार्रवाई है। भले सड़कछाप ही क्यों न हो!

बाहर उजाला हो गया है। बस एक कस्बे में रुकी है। सेवण! दुबारा पूछा। जी, सेवण शरीफ। यकीन नहीं हुआ। किसी ने जिक्र तक नहीं किया था कि बस सेवण होकर जाती है! सेवण का नाम आपने भी कई दफा सुना होगा। रूना लैला, आबिदा परवीन, नुसरत फतह अली खां जाने कितने फनकारों ने 'दमादम मस्त कलंदर' गाकर आपके तन-मन को झुमाया है। यह उन्हीं ''सिंधड़ी के लाल'' सूफी फकीर शाहबाज कलंदर का स्थान है। बाज के आख्यान को जोड़कर उनके कई किस्से हैं, जो लोकमानस को देखते हुए न वहां अटपटे होंगे न यहां। लाल उनका नाम इसलिए पड़ा बताते हैं कि हरदम लाल कमली ओढ़े रहते थे।

मैं बस से घड़ी भर को उतरा। अजब रोमांच था।

शाहबाज कलंदर का जन्म आठ सौ साल पहले अफगानिस्तान में हुआ था। बाद में सेवण उनका धाम हो गया। मुस्लिम उन्हें पीर मानते थे और हिंदू भर्तृहरि का अवतार। आपने गौर किया होगा, सराय की भाषा में रची गई 'मस्त कलंदर' मन्कबत सिंध के देव झूलेलाल- जो लाल कलंदर से कोई सौ साल पहले हुए- से शुरू होती है और बाद में सूफी संत पर आती है: ''ओ लाल! मेरी पत रखियो भला, झूलेलालन... सिंधड़ी दा, सेवण दा सखी (कृपालु) शाहबाज कलंदर..''। मरहूम नुसरत फतह अली खां ने अपनी कव्वाली 'झूले झूलेलाल; दम मस्त कलंदर' को पारंपरिक बंदिश से बिलकुल अलग भंगिमा दी है। मानो अपनी स्थायी में ही वे सिंध के दोनों लाल को एक साथ सजदा कर रहे हों। हिंदू देवता और मुस्लिम संत दोनों को एक साथ पूजने वाला कोई दूसरा गीत मुझे फौरन याद नहीं आता।

यह कहना महज किसी फिकरे का इस्तेमाल करना होगा कि सेवण शरीफ हिंदू-मुस्लिम एकता का प्रतीक है! उस वक्त लोग शायद ऐसी भाषा में सोचते ही नहीं थे क्योंकि दोनों समुदायों को वे, आज की तरह, भेद कर नहीं देखते थे; न यहां आने वाले, न उन्हें तारने वाले। इसके बावजूद यह बात अपनी जगह सही है कि शाहबाज कलंदर हिंदू-मुस्लिम, गरीब-अमीर की खाई को पाटने वाले पीर माने जाते हैं। भारत में (अब भारत-पाक!) ऐसे फकीरों-संतों की लंबी परंपरा है। मेरे गांव (फलोदी) से सटे रामदेवरा में 'बाबा रामदेव पीर' ऐसे ही लोकदेवता हुए हैं।

मैंने सिर उठाकर शाहबाज कलंदर की दरगाह की ओर देखा। आंखें बंद कीं। पूरी अकीदत के साथ। बस आगे चल दी। मेरा एक मन वहीं छूट गया।